पंचम अध्याय

मंत्रियता

पंचम अध्याय

<u>मंचीयता --</u>

रंगमंच के बिना नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती । नाटक की सबसे बड़ी बात यह है, नाटक की साहित्यिकता तभी तक अर्थवान है, कि वह रंगमचीय तत्वों से परिपूर्ण हो । रंगमंच के अभाव मे नाट्य लेखन कुंठित हो जाता है । रंगमंच और नाटक का विकास एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है । रंगमंच पर पात्रों की सृष्टि बिम्बों के माध्यम से होती है । इन्हीं के द्वारा रंगमंच साकार होता है और दर्शक के प्रत्यक्ष बोध के लिए जीवन का जीवन्त चित्र उभरता है । यह चित्र वास्तविक न होकर वास्तविकता का भ्रम पैदा करता है । रंगमंच पर जो सृष्टि उत्पन्न की जाती है, वह प्राकृतिक नहीं, मानव निर्मित होती है और वह मानवीय भावनाओं की वस्तुगत अभिव्यक्ति पर निर्भर रहती है । नाटक दृश्यकाव्य है, इसलिए उसमें अभिनेयता और उसकी आधारभूमि रंगमंच का बड़ा महत्त्व है । कालिदासने इसी को "प्रयोगविज्ञान" कहा है ।"[1] (अभिज्ञान शाकुन्तल अंक १ प्रस्तावना)

<u>"रंगमंच" शब्द की व्युत्पत्ति --</u>

रंगमंच शब्द की व्युत्पत्ति बड़ी रोचक है । यह शब्द दो शब्दों से बना हुआ है । रंग और मंच मिलकर "रंगमंच" शब्द बना है । अभिनवगुप्ताचार्य ने "रंग" शब्द का प्रयोग "मंडप" अर्थात "रंगमंडप" या "नाट्यमंडप" के अर्थ में किया है । मंच अर्वाचीन शब्द है, जिसका अर्थ है वह मंडप या कार्य-स्थल, जहाँ कोई प्रयोग अर्थात् नाट्याभिनय किया जाए । इस प्रकार रंग और मंच दोनों का अर्थ एक ही है ।

---

१ हिन्दी नाटक और रंगमंच - राजमल बोरा - पृ. ८७ ।

SHIVAJI UNIVERSITY LIBRARY KOLHAPUR

रंगमंच का स्वरूप -

काव्य के अनेक रूप हैं । इन सब में नाटक ही सबसे अधिक रमणीय है । उसका कारण यह है, कि नाटक में काव्य के अतिरिक्त गीत, वाद्य, नृत्य, नृत्त, आलेख, वेश-विन्यास, दृश्य, अभिनय आदि अनेक कलाओं का एक साथ रस मिलने के अतिरिक्त काव्यानंद भी प्राप्त होता है ।

नाटक स्थल, काल, कृति से बंधा हुआ रहता है । गद्य की अन्य विधाओं-कथा, उपन्यास, निबन्ध-आदि में यह बन्धन नहीं है । कथा, उपन्यास पढ़े जाते हैं, सुने भी जाते हैं, किन्तु नाटक देखा जाता है, सुना जाता है । नाटक की प्रमुख विशेषता उसकी दृश्य-श्राव्यता है । दृश्य-श्राव्य के सिध्दांत ही रंगमंच का सैध्दांतिक स्वरूप है । नाटक और उसके प्रदर्शन में अन्योन्याश्रित संबंध है। नाटक की पूर्णाभिव्यक्ति प्रदर्शन में ही होती है । नाटक के जीवन्त साक्षात्कार के लिए ऐसा स्थान चाहिए, जहाँ उसे व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया जा सके, उससे नाटक का उद्देश्य स्पष्ट रूप से [illegible] हो सके, ताकि उस नाटक से रस का आनन्द ले सके और उनका मनोरंजन भी हो सके । इसीलिए नाटक की उस कृति को उद्देश्यपूर्ण करने के लिए ही नाट्यशाला की स्थापना की गयी, जिसे आज थियेटर, रंगभवन, कलाभवन आदि कहा जाता है ।

रंगशालाएँ अनेक प्रकार की होती हैं - जैसे वृत्ताकार, चौकोर, आयताकार, अथवा त्रिकोना होना है । नाट्यशाला में तीन विभाग आवश्यक हैं नेपथ्य, रंगमंच और प्रेक्षागृह । नेपथ्य में नाटक की रंगमंच पर प्रस्तुति के लिए तैयारियाँ होती हैं । जैसे रंगभूषा, वेशभूषा । बिना नेपथ्य के रंगमंच सुशोभित नहीं होता । नाटककार की नाट्य शाला का मुख्य केन्द्र बिन्दु रंगमंच है । रंगमंच के लिए नाट्यशाला है । नेपथ्य कार्य की पूर्णता रंगमंच होती है और उसका रसास्वादन प्रेक्षागृह में बैठे सुबुध्द सहृदय दर्शक करते हैं । रंगमंचपर जो नाटक खेला जाता है उसके स्थान काल कार्य में सहृदय दर्शक सहभागी होता है ।

नाटक मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है और रंगमंच संवेदनाओं को प्रेक्षक तक पहुँचाने का एक समर्थ साधन । इसलिए नाटक की

उत्पत्ति के साथ ही रंगमंच का भी आविर्भाव हुआ है । रंगमंच जीवन की घटनाओं को सजीव रूप में उपस्थित करता है । प्रेक्षक के समक्ष ही वास्तविक घटनाएँ घटित होती हैं । रंगमंच के माध्यम द्वारा प्रेक्षक की भावनाएँ मुख्य रूप से वर्द्धित होती हैं और उसमें तत्सम्बन्धी संवेदनाएँ उभर आती हैं जिसे भरतमुनि ने 'साधारणीकरण' कहा है । जिसके मूल में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों का संयोग रहता है और प्रेक्षक के हृदय में रस निष्पत्ति होती है । रंगमंच के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं ---

१) <u>अभिनेता --</u>

रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत किया जाता है । अभिनेता नाटककार द्वारा रेखांकित पात्र की भूमिका में उतरते हुए उसकी शब्दार्थमयी योजना को एक जीवन्त स्वरूप देता है । अभिनय नाटक का अनिवार्य अंग है । जिन दृश्यों को हम मंच पर प्रत्यक्ष दर्शा नहीं पाते, उनको अभिनेता अपने अभिनय द्वारा अथवा संयोजक दृश्यविधान द्वारा दर्शकों को स्पष्ट कर देते हैं । [illegible] कर देते हैं । जैसे-पर्वत, नदी, चलती रेल । नाटक की सफलता अभिनय की दृष्टि से नापी जाती है, इसलिए अभिनेता को अभिनय कला के साथ साथ रंगमंच का भी ज्ञान होना चाहिए । अभिनेता को अपनी भाव, मुद्रा और गति का ऐसा कलात्मक प्रयोग करना चाहिए, कि रंगमंच निरन्तर बोलती चलती तस्वीर का रूप धारण करें । इस दृष्टि से अभिनेता ही मंच का प्रमुख सर्जक कलाकार ठहरता है ।

२) <u>वेशभूषा, रंगभूषा -</u>

संसार में वेश के द्वारा ही किसी व्यक्ति के देश, शील, कर्म, भूमिका, प्रान्त, वर्ण, जाति आदि का ज्ञान बिना बताए ही हो जाता है । वेशभूषा मंच पर एक वातावरण निर्मित करती है । उसका सबसे बड़ा उद्देश्य एक ओर प्रेक्षक को पात्र की प्रतीति करानी है, दूसरी ओर नाटक की व्याख्या । वेशभूषा प्रस्तुतीकरण की शैली, नाटक के कथ्य और रसवत्ता को भी मुखरित करती है ।

वेष-विन्यास और रूपसज्जा दोनों सहयोगी कलाएँ हैं । नाटक के पात्रानुरूप अभिनेता की सिर से पैर तक वस्त्र आभूषण, केश विन्यास आदि द्वारा रूप-सज्जा की जाती है । स्त्री-पुरुष, बालक, गृहस्थ, संन्यासी, मंत्री, विद्यार्थी, सैनिक, डॉक्टर, वकील, आदि सभी पात्रों के अनुसार वेश-विन्यास तथा केश-विन्यास रंगमंच की दृष्टि से आवश्यक हैं । अर्थात देश, काल, अवस्था, जाति आदि के अनुरूप अभिनेता का रूप बनाना रंगमंच का आवश्यक सिध्दांत है ।

दर्शकों के सामने अभिनेता की अभिनेता नहीं, बल्कि नाटक का पात्र जैसे - राम, कृष्ण, शिवाजी महाराज आदि उपस्थित करना पडता है । रंगभूषा के द्वारा युवा अभिनेता वृध्दावस्था का चरित्र निभाता है, तो वृध्द अभिनेता युवा पात्र का अभिनय कर लेता है । इस तरह हम जान लेते हैं, कि रंगमंच पर प्रस्तुत होने के पहले अभिनेता को पात्र के अनुरूप मेकअप कर लेना चाहिए । अन्यथा दर्शकों पर सिर्फ अभिनय का प्रभाव प्रतिकूल होगा ।

वास्तव में रंगमंच और नाटक की कला रूपक को पर्याय है और इस पर्याय को सफलता वेशभूषा पर तो निर्भर करती है, रूपसज्जा पर कहीं अधिक । रूपसज्जा सच्चे अर्थों में पात्र के चरित्रांकन का आधार बनती है । इससे चरित्र की सृष्टि होती है । इसीलिए रूपसज्जा सुव्यवस्थित और सुविचारित होनी चाहिए ।

रूपसज्जाकार अपनी कला से अभिनेता को पात्र के अनुरूप आँखें, नाक, भौंहें, माथा, ओंठ ही नहीं देता, भावात्मक अभिव्यक्ति भी सर्जित करता है । वस्तुत: रूपसज्जा की कला पूर्णत: रंग विज्ञान पर निर्भर करती है । इसप्रकार रूपसज्जाकार मूर्तिकार या चित्रकार की भाँति प्रकाश और छाया के माध्यम से अभिनेता की एक आकृति गढ़ाता है । चित्रकार की भाँति वह भी वास्तविकता का एक भ्रम पैदा करता है ।

3) दृश्य-सज्जा -

नाटक, अभिनय और दृश्य में पारस्परिक संगति आवश्यक है। जैसा नाटक हो, उसकी प्रकृति के अनुसार रंगमंच की दृश्यसज्जा होनी चाहिए। उसकी विसंगति से नाटक अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाता। नाटक के दृश्य के अनुसार रंगमंच की पृष्ठभूमि परिवर्तित परदों द्वारा खडी करनी चाहिए। जैसे जैसे रंगमंच पर पौराणिक काल का नाटक चल रहा है और रंगमंच पर आधुनिक काल का कैलेण्डर टंगा हुआ है। मंचपर आने-जाने के लिए अभिनेताओं को उचित प्रवेश स्थान होने चाहिए तथा भितिचित्र एवं विषय के अनुकूल साजो-सामान टेबल, कुर्सी, फोन, पुस्तकें आदि जहाँ के तहाँ होना चाहिए।

4) प्रकाश व्यवस्था --

जब से बन्द नाट्य-शालाओं में नाटक होने लगे तब से कृत्रिम प्रकाश का उपयोग करने की पध्दति प्रारंभ हुई। आज रंगमंच पर प्रकाश योजना करने के लिए [illegible] तंत्र की आवश्यकता रहती है। नाटकस्थल और समय को प्रदर्शित करने में प्रकाश का बडा महत्व का स्थान है। प्रकाश के माध्यम से वातावरण निर्मित होते हैं। रंगीन प्रकाश योजना नाटक को और प्रभावशाली बनाती है। नाटक के प्रतीकात्मक अथवा सांकेतिक अर्थ प्रकाश के [illegible] स्पष्ट होते हैं। रंगीन प्रकाश व्यवस्था अद्भुत भावात्मक प्रभाव पैदा करने में समर्थ होता है। समाज में रंगों के अनेक अर्थ प्रचलित हैं, जैसे शुभ्र प्रकाश पवित्रता, सुख का प्रतीक है। तो अंधःकार दुःख पाप तथा दुष्ट वृत्तियों का प्रतीक है। गुलाबी प्रेम का तो लाल खून का प्रतीक है।

रंगीन प्रकाश योजना, कम, अधिक प्रकाश करने की व्यवस्था, फोकस देने की व्यवस्था, घूमती प्रकाश रचना इस प्रकार अनेक प्रकाश व्यवस्था के तंत्र ने रंगमंच की दुनिया में एक नयी चेतनता लाकर नाट्यजगत को [illegible] नया रूप प्रदान किया है।

इस प्रकार भाव-दशा के निर्माण में रंगीन प्रकाश का बडा हाथ होता है। प्रकाश के साथ रंग मिलकर रंगमंच की पूरी तस्वीर को पेश करने में सहायक होते हैं।

वस्तुत: स्थल के निर्धारण, दूरियों का आभास देने तथा काल की स्थिति और गतिशीलता को व्यंजित करने में प्रकाश योजना अद्भुत सृष्टि करती है।

५) संगीत योजना --

रंगमंच पर संगीत आवश्यक है। रंगमंच पर घटित घटनानुसार नेपथ्य से वाद्यध्वनि का होना उपकारक है। जैसे - घंटा, शंख, नगाडे, अग्निशामक दल की घंटिया आदि। रंगमंच पर उपस्थित पात्रों की मनोदशा अथवा स्थितियों के अनुकूल कोई नेपथ्य गीत आवश्यक होता है। रंगमंच पर प्रत्यक्ष गीत गाये जाते हैं, तो संगीत होना जरूरी है। रंगमंच पर घटित अवसर के अनुकूल ही संगीत योजना होनी चाहिए। संगीत के स्वरों से दर्शक उस राग के अनुरूप हर्ष-विषाद, के प्रसंगों को दृश्य रूप में रंगमंच पर देखने के लिए सहज ही सिध्द होते हैं।

निष्कर्ष ---

रंगमंच पर प्रस्तुत नाटक एक सामूहिक कला है। पाठ्य तथा श्रव्य काव्य की अपेक्षा मंचीय नाटक के लिए अधिक प्रयत्न, परिश्रम, बुध्दि, ज्ञान, सहयोग अपेक्षित है। जिसप्रकार जीवन में सुसंगति आवश्यक है, इसी प्रकार रंगमंच पर नाटक व्यवस्था तथा उसकी प्रस्तुति में सुसंगति आवश्यक है। रंगमंचीय नाटक एक सामूहिक कला निर्मिति है जिसका आस्वादन भी समूह द्वारा किया जाता है। इस प्रकार नाटक एक सच्चे अर्थ में सामूहिक कला है।

हिन्दी रंगमंच --

हिन्दी रंगमंच का भी अपना इतिहास है। लखनऊ के सुप्रसिध्द नवाब वाजिद अली शाह ने रासलीला के आधार पर एक 'रहस' की रचना की थी। बाद में १८५३ ई. में आगा हसन अमानत लखनवी ने 'इंदर सभा' की रचना की। 'इंदर सभा' की भाषा हिन्दी उर्दू मिश्रित है। उसका अधिकांश भाग गानों से भरा पडा है। ठुमरी, गजल, दादरा, शृंगारिकता आदि के कारण यह नाटक अत्यंत लोकप्रिय हुआ।

पारसी रंगमंच ने इस परंपरा को सबसे अधिक अपनाया ।

हिन्दी नाटकों को पारसी रंगमंच पर लाने का सबसे पहले प्रयास राधेश्याम कथावाचक ने किया । उनका 'वीरबालक अभिमन्यु' हिन्दी का पहला नाटक जो सफलता के साथ पारसी रंगमंच पर खेला गया । काशी की नागरी नाटक मंडली ने १९३२ ई. के प्रारंभ में यह नाटक खेला था । उनके 'ऊषा अनिरुद्ध', 'भक्त प्रल्हाद', आदि नाटक भी मंचित हुए हैं । आगा हश्र प्रथम उर्दू में नाटक लिखते बाद में हिन्दी में । 'सूरदास', 'गंगावतरण', 'भीष्म-प्रतिज्ञा', आदि उनके नाटक सफलता के साथ खेले गए हैं ।

नारायण प्रसाद 'बेताब' कृत 'महाभारत', 'जहरी सांप', 'कृष्ण - सुदामा', 'शाकुन्तल' मंचीय नाटक हैं । पृथ्वी थियेटर्स के लिए 'बेताब' ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी रूपांतर किया । इस प्रकार इसमें कोई संदेह नहीं, कि स्तर की बात जाने दें, जो पारसी थियेटर के नाटककारों ने भारतीय संस्कृति के आदर्शों या नाट्य पद्धति का अपने नाटकों में पूरा समाहार किया । भारतीय धार्मिक कथानकों, अतिप्राकृतिक प्रसंगों, पौराणिक आख्यानों तथा लौकिक प्रसंगों को लेकर पारसी रंगमंच पर रोमानी ही नहीं, पुनरुत्थानवादी संस्कृति प्रधान और राष्ट्रीय भावना से युक्त नाटक प्रस्तुत किये गये ।

पारसी रंगमंचीय नाटकों में तड़क-भड़क शृंगारिकता, कामुकता, छिछलेपन आदि का आधिक्य होने के कारण पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया स्वरूप आधुनिक हिन्दी साहित्य जन्मदाता भारतेन्दु ने हिन्दी नाटकों की रचना की । विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन', 'गोपाल चन्द्र के नहुष तथा शीतल प्रसाद त्रिपाठी के 'जानकी मंगल' ने एक नयी परम्परा की आधारशिला डालने में महत्वपूर्ण योग दिया । 'जानकी मंगल' हिन्दी का पहला नाटक था जो शौकिया रंगमंच पर खेला गया था । भारतेन्दु के अधिकांश नाटक तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित हैं । 'विद्या सुन्दर' (१८६८) उनका पहला नाटक है । उन्होंने अपने नाटकों को अभिनयानुकूल बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया है । 'अंधेर नगरी',

`वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति` आदि उनके श्रेष्ठ प्रहसन हैं। उनके अनेक नाटक कानपुर, प्रयाग, बलिया आदि नगरों में अनेक बार सफलता के साथ मंचित हुए हैं। इसी काल में अनेक मंडलियों की स्थापना में भारतेन्दु उनके सहयोगियों और परिवार के लोगों का मुख्य हाथ था। जो नाटक खेले गए उनमें भारतेन्दु के नाटक तो थे ही, उनके अतिरिक्त राधाकृष्णदास का `महाराणा प्रताप`, `द्विजेन्द लाल राय का `दुर्गादास`, प्रसाद का `स्कन्दगुप्त`, `ध्रुवस्वामिनी` और `चन्द्रगुप्त` आदि उल्लेखनीय हैं। माधव शुक्ल कृत `महाभारत` नाटक उत्तर प्रदेश में अनेक बार खेला गया।

भारतेन्दु युग के पश्चात प्रसाद युग आरंभ होता है। प्रसाद ने तेरह ऐतिहासिक नाटक लिखे, परन्तु रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद के नाटक प्रश्नचिन्ह जैसे हैं। प्रसाद ने पर्याप्त संख्या में नाटक लिखे पर वे व्यावहारिक रंगमंच से नहीं जुड पाये। काशी की रत्नाकर रसिक मंडलीने उनका `चन्द्रगुप्त` नाटक १९३३ को मंचस्थ किया था। रत्नाकर रसिक मंडलीने प्रसाद का `स्कन्दगुप्त` नाटक भी मंचित किया था। अन्य लोगों में `प्रेमी` और `गोविन्ददास के नाटकों में नाट्य और रंगतत्व का अभाव है।

प्रसादोत्तर युग में गोविन्द वल्लभ पंत, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट का महत्वपूर्ण स्थान है। रंगमंच की दृष्टि से गोविंदवल्लभ पंत के परवर्ती नाटक `अंगूर की बेटी`, `अंतःपुर का छिद्र`, `अधूरी मूर्ति` उत्तर प्रदेश, काश्मीर, पूर्वी पंजाब में खेले गये थे। प्रसाद और उनके बाद जो नाटककार आए, वे रंगमंच का नाम तो लेते थे, पर उसके प्रति जागरुक नहीं रहे। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने बुध्दिवाद के धरातल पर अनेक ऐतिहासिक और समस्या नाटकों का सृजन किया। `गरुडध्वज`, `वत्सराज`, `वितस्ता की लहरें`, `सिंदूर की होली`, आदि नाटकों में रंगमंच के अनुकूल गुण हैं। शेठ गोविन्ददास कृत `कुलीनता`, `शेरशाह`, रंगमंच की दृष्टि से सफल नाटक हैं।

स्वतंत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर काल में हिन्दी रंगमंच को दीप्ति प्रदान करनेवाले अत्यंत सफल नाटककार स्व. पृथ्वीराज कपूर ही थे। उन्होंने अनेक सुन्दर नाटकों का प्रदर्शन किया। `दीवार`, `पठान`, `गद्दार`, `कलाकार` आदि

नाटक उन्होंने मंचित किए । उनका `पठान` नाटक मिनर्वा थियेटर ,नागपुर में खेला गया । इसप्रकार एक उत्कृष्ट अभिनेता, निर्देशक निर्माता और नाटककार के रुप में पृथ्वीराज और पृथ्वी थियेटर्स को हिन्दी रंगमंच कभी भूल नहीं सकता ।

आधुनिक नाटककारों में हिन्दी रंगमंच को उजागर करने में उपेंद्रनाथ अश्क का महत्त्वपूर्ण स्थान है । अश्क एक नाटककार के साथ साथ कुशल अभिनेता और निर्देशक भी है । अत: उन्होंने रंगमंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर अनेक नाटक लिखे । `स्वर्ग की झलक` , `अंजो दीदी`, `अलग अलग रास्ते`, आदि नाटकों ने हिन्दी रंगमंच को प्रतिष्ठा प्रदान कर दी है । आधुनिक नाटककारों में रामकुमार वर्मा, जगदीशचंद्र माथुर, मोहन राकेश, ज्ञानदेव अग्निहोत्री आदि नाटककारों का हिन्दी रंगमंच के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है । रामकुमार वर्मा कृत `पृथ्वी का स्वर्ग` भारत नाट्य संस्थान के रंगमंच पर अनेक बार अभिनीत हो चुका ।

हिन्दी रंगमंच को समृद्ध बनाने में मोहन राकेश का अत्युच्च स्थान है । `आषाढ़ का एक दिन`, `लहरों के राजहंस`, `आधे-अधूरे` ये तीनों नाटक उन्होंने रंगमंच की आवश्यकताएँ ध्यान में रखकर लिखे हैं । हिन्दी रंगमंच को नये सिरे से उजागर करने में लक्ष्मीनारायण लाल का महत्वपूर्ण स्थान है । उनका रंगमंच का ज्ञान अत्यंत गहरा है ।

`अंधा कुआँ` उनका पहला मंचीय नाटक है --

रंगमंच को एक लोकरंजन का साधन मानकर जीवन विघायक विविध कुरीतियों का उद्घाटन करके हिन्दी रंगमंच का विकास करने में रमेश मेहता का महत्वपूर्ण योगदान है । `जमाना`, `रोटी और बेटी`, `दामाद`, `उलझन` आदि उनके सफल मंचीय नाटक हैं ।

नयी पीढी के नाटककारों के नाटक, रचनाकारों के रंगमंच का व्यावहारिक ज्ञान होने के कारण रंगमंच की दृष्टि से सफलता प्राप्त कर चुके हैं । इसमें विनोद रस्तोगी ज्ञानदेव अग्निहोत्री आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है । रंगमंच की दृष्टि से `नये हाथ`

को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। 'अनामिका' द्वारा यह नाटक मंचित हुआ था। ज्ञानदेव अग्निहोत्री के सफल मंचीय नाटक है 'नेफा की एक शाम', 'माटी जागी रे', 'वतन की आबरु' आदि। 'नेफा की एक शाम' नाटक को रंगमंच की पूरी सफलता मिली है। हिन्दी रंगमंच के विकास में धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' एक विशिष्ट प्रयोगशीलता का द्योतक है। मुक्त छंद में लिखा गया यह नाटक मुक्त रंगमंच पर सफलता के साथ खेला गया।

इस प्रकार हिन्दी रंगमंच अभी विकसित नहीं हो पाया है, उसका एक कारण यह भी हो सकता है, कि हम उसे अपनी कालजयी प्राचीन परम्परा और गतिशील नवीन जीवनगत स्थितियों से नहीं जोड़ पाए। आज हिन्दी रंगमंच दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता जैसे महानगरों की ऊँची दीवालों को फाँदकर छोटे शहरों और कस्बों में चला आया है और धीरे धीरे वहाँ वह अपना अस्तित्व बनाता जा रहा है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र और रंगमंच ---

१८६८ ई. में ज्ञानकी मंगल नाटक के प्रदर्शन से हिन्दी रंगमंच की शुरुआत मानी जाती है। किन्तु अब ऐसे प्रमाण मिले हैं कि इसवी १८५३ में वाराणसी में आद्य मराठी नाटककार विष्णुदास भावे जी ने हिन्दी में नाटकों के प्रयोग किये थे। हिन्दी रंगमंच के प्रारम्भ में अधिकतर पारसी और अंग्रेजी नाटक खेले जाते थे। क्वचित हिन्दी नाटक खेला जाता था।

पिछले एक सौ दस वर्षों की अवधि में से लगभग पिछले पचपन वर्षों से श्री श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी नाटक लिखते आ रहे हैं। हिन्दी रंगमंच लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामने अबान हुआ और प्रौढ़ता प्राप्त कर चुका है। अपनी पिछली पचास वर्षों से अधिक दिनों की नाट्य सेवा के दौरान हिन्दी रंगमंच को काफी कुछ दिया होगा।

पश्चिमी रंगमंच के आदर्शों को सामने रखते हुए बहुत हद तक उनकी नवीनताओं की चमक दमक से प्रभावित भी प्रयोगशील नाटककारों का एक दल सामने आया। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र उसके पुरोधा बने। इस प्रकार मिश्र जी के

के पौरोहित्य में हिन्दी इब्सन और शॉ की परंपरा कायम हुई । मिश्र जी ने नाट्यवस्तु और रंगशिल्प दोनों ही धरातलों पर यथार्थवाद स्वीकार कर समस्या नाटक लिखना शुरु कर दिया । बहरहाल, हिन्दी रंगमंच की यथार्थवादी शैली के विकास का श्रेय एक हद तक श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र को ही दिया जाता है, क्योंकि समस्या नाटकों के अविर्भाव के साथ साथ यह रंग शैली भी अस्तित्व में आयी और जल्दी ही लोकप्रिय हो उठी । हिन्दी रंगमंच का प्रस्तुतीकरण की एक नयी शैली प्रदान करने का गौरव लक्ष्मीनारायण मिश्र को मिल गया है । एक पुरोधा नाटककार के रुप में मिश्र जी की हिन्दी रंगमंच पर अवधारणा एक महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाएगी । नाट्य रचना और रंगमंच को जिस आलोचना के द्वारा मार्ग निर्देश और दिशा संकेत मिल सकता था उस आलोचना को इसप्रकार विभाजित कर कमजोर बनाने के लिए प्रकारांतर से मिश्र जी द्वारा प्रवर्तित यही यथार्थवाद उत्तरदायी ठहराया जाएगा । यथार्थवाद को श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने यूरोप से आयात किया ।

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र जी के ऐतिहासिक, पौराणिक, नाटकों को आधार बनाकर प्रेमी, गोविन्ददास, रामकुमार वर्मा और मिश्र जी को करीब-करीब एक पाँत में रखा जा सकता है, लेकिन समस्या नाटक और यथार्थवादी रंगमंच का प्रवर्तन करने से क्या दूरगामी प्रभाव हो सकते हैं, निश्चय ही मिश्र जी ने कभी इस विषय से सम्बध्द अनुमान नहीं किए होंगे, अन्यथा यथार्थवाद की ओर बढने के पूर्व वे काफी गम्भीरता से सोचते । हिन्दी रंगमंच के वर्तमान का दायित्व मिश्र जी से जोड कर देखा जा सकता है पर इस अंधेरे के लिए मात्र मिश्र जी को ही उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता ।

जब हम श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की एक नाटककार के रुप में चर्चा करना चाहते हैं, तो कई बातें हमारे समक्ष स्वत: स्पष्ट हो जाती हैं । श्री मिश्र ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को यथार्थवाद का परिचय कराया और यह शिल्प परवर्ती नाट्य विधानों में इसप्रकार गृहीत हुआ कि हिन्दी नाट्य लेखन का एक अंग सा बन गया

हिन्दी रंगमंच और लक्ष्मीनारायण मिश्र - नरनारायण राय ।

और हिन्दी रंगमंच में यथार्थवादी शैली का प्रचलन अब एक संस्कार का रूप ले चुका है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने रंगमंच के अनुरूप एक अंक और एक दृश्य के सिद्धांत का समर्थन किया है। तात्पर्य यह है -- नाटकों में रंगमंच की अनुरूपता और अभिनय की स्वाभाविकता का आप समर्थन करते हैं।

हिन्दी नाटकों को मिश्र जी की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन यह रही, कि नाट्यवस्तु के रूप में समकालीन समस्याओं को उसकी सम्पूर्ण गंभीरता से नितान्त तार्किक एवं बौद्धिक धरातल पर प्रस्तुत करने की परम्परा उन्होंने चलायी। नाट्य-लेखन उन दिनों लगभग एकांत भाव से अतीतोन्मुखी था। वर्तमान से सीधा साक्षात्कार करने का यह प्रयास मिश्र जी से प्रारंभ होता है जिसकी कुछ निजी विशेषताएँ रही हैं और समस्या नाटकों के संदर्भ में उनका संकेत किया जा चुका है। मिश्र जी ने 'आधी - रात' में जो वस्तु-विधान का जो शिल्पगत प्रयोग किया है, वह उस समय के नाट्यलेखन में एक उल्लेखनीय प्रयोग रहा है। एक ही दृश्य खण्ड में दो अलग अलग दृश्यों का एक साथ चलना यह यथार्थवादी रंगमंच की भक्ति ही मानी जाएगी। जिसका कालान्तर से सिनेमा में काफी विकास हुआ।

मिश्र जी का ऐतिहासिक नाट्यलेखन नाट्य रचना शिल्प, वस्तुविधान की नवीनता अथवा रंगमंचीय संदर्भ में, कहीं भी कोई उल्लेखनीय महत्व का प्रतीत नहीं होता। मिश्र जी के समस्त ऐतिहासिक पौराणिक नाटक काव्य की दृष्टि से भी पठनीय हैं और नाट्यलोचन की पारंपरिक शैली के अंतर्गत उनका पर्याप्त अध्ययन भी किया जा चुका है। गरुड-ध्वज, गंगाद्वार, वितस्ता की लहरें आदि ऐसे नाटक हैं जिनका रंगमंचीय प्रयोग किया जा सकता है, लेकिन इन नाटकों को प्रस्तुत करने की सार्थकता और प्रदर्शन का कोई तर्कपूर्ण औचित्य सामने नहीं आने के कारण ही ये नाटक भी रंगमंच पर उपेक्षित रह गए हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने जिस समय नाटक लेखना शुरू किया वह पारसी रंगमंच की प्रसिद्धि और लोकप्रियता का चरम उत्कर्ष काल था। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की नाट्यरचनाओं में अनुभूति के अभाव की स्थिति है। उन्हें रंगमंचीय परिवेश से एकदम काटकर अलग रख देता है। यही कारण है कि न तो वे हिन्दी रंगमंच

को कोई दिशा और गति दे पाए और न रंगमंच पर अपनी पहचान ही कायम कर पाए ।

'वितस्ता की लहरें' की मंचीयता --

'वितस्ता की लहरें' में आधिकारिक कथा पुरु तथा अलिकसुन्दर के युध्द की है और प्रासंगिक कथाओं में से इन्द्रदत्त तथा रजनी के प्रणय की कथा प्रमुख है । नाटक के आरम्भ में राजकुमार इन्द्रदत्त की पत्नी रोहिणी को इन्द्रदत्त के लिए चिन्तित दिखाया गया है । इस चिन्ता के प्रकरण में नाटक में लगभग आधा घंटा लग जाता है । इसके पश्चात् भद्रबाहु तथा पुरु का सम्भाषण होता है और उसके माध्यम से अलिकसुन्दर तथा आम्भी के प्रसंग की कुछ बाते ज्ञात होती है । फिर विष्णुगुप्त अपनी योजना पुरु को बताता है और पुरु अलिकसुन्दर से अकेले वितस्ता के मध्य में मिलने की बात मान लेता है । इस सारे वार्तालाप में अन्य नाटकों के समान ही तरह तरह की चर्चा होती है । परन्तु कथानक अग्रसर नहीं होता । रजनी और इन्द्रदत्त का प्रणय प्रसंग प्रेक्षकों को कथावस्तु की गतिशीलता का परिचय देता है ।

पहले तथा दूसरे अंक में कथावस्तु बड़ी मन्थर गति से आगे बढ़ती है । तीसरे अंक में युध्द है तो युध्दभूमि का, परन्तु नाटक के प्रेक्षकों को जिस रूप में कथानक को कार्यरूप में परिणत होते हुए देखने को मिलेगा उसमें विष्णुगुप्त के शिष्यों की असाधारण मेधा के चमत्कारों की कहानी और युध्द की विगत घटनाओं की सूचनाएं तथा नेपथ्य में महाराज पुरु के भागते हुए हाथी का नाटक के पात्रों के मुख से आँखों देखा हाल ही सुनने को मिलेगा ।

'वितस्ता की लहरें' में कथावस्तु को जिस रूप में नियोजित किया गया है उसमें अन्य नाटकों की तरह गतिशीलता का अभाव आ गया है । नाटक की घटनाएं प्राय: एक दूसरे से असम्बध्द सी लगती है । घटनाओं की अधिकता परन्तु उनके विस्तार का अभाव एवं सूच्य वस्तु के बाहुबल के कारण कथावस्तु का आकर्षण कम हो गया है । मंचन की दृष्टि से 'वितस्ता की लहरें' का कथानक उपयुक्त नहीं कहा जा सकता ।

' वितस्ता की लहरें ' एक सौ तेईस पृष्ठ का नाटक है । इसमें तीन अंक हैं । अंकों का दृश्यों में विभाजन नहीं किया गया है । नाटक के अभिनय में अनुमानत: चार घंटे का समय लगेगा ।

पूरे नाटक के तीनों अंकों में एक-एक ही दृश्य है इसलिए दृश्य-परिवर्तन आदि में विशेष समय नहीं लगेगा । पहले अंक का दृश्य केकय राज पुरन के राजभवन के सिंहद्वार के पास का है और पूरे तीसरे अंक की कर्मभूमि वितस्ता -तटवर्ती युध्द-क्षेत्र की पार्श्ववर्ती भूमि है । नाटक के पहले दृश्य में प्रासाद वितान तथा सिंहद्वार दोनों दृश्य एक साथ प्रस्तुत करने का निर्देश है, यह सम्भव नहीं हो सकता । सामान्यत: दुमंजिले भवन की व्यवस्था मंच पर आसानी से नहीं की जा सकती । दूसरे अंक की दृश्य सज्जा पर्याप्त प्रशस्त है, परन्तु उसके विन्यास में कोई कठिनाई नहीं होगी । तीसरे अंक का दृश्य-विन्यास अत्यधिक सरल है क्योंकि इसका पूरा कथानक ' श्रुति ' के आधार पर चलता है । नेत्रविहीन प्रेक्षक भी कानों से देख लेगा । एक अंक में एक ही दृश्य रखने के कारण इस नाटक में भी पात्रों का आवागमन अस्वाभाविक हो गया है ।

पूर्ववर्ती अन्य नाटकों की तरह परम्परानुसार इस नाटक की कथावस्तु का कार्यव्यापार भी अधिकांश श्रव्य होने कारण, मंच की दृष्टि से सभी असुविधाजनक दृश्यों की समस्या स्वत: ही हल हो गयी है । अलौकिक अथवा अतिप्राकृतिक एवं आकस्मिक संयोगों की भी पात्रों के संवादों में चर्चा हुई है परन्तु दृश्य रूप में वे भी प्रस्तुत नहीं किये जाते ।